पुस्तक समीक्षा : Globalisation or Recolonisation ?

साम्राज्यवाद की एक निम्न पूंजीवादी आलोचना

'यलगार' प्रकाशन द्वारा प्रकाशित तथा नीरज जैन द्वारा लिखित पुस्तक "वैश्वीकरण या पुनर्उपनिवेशीकरण ?" (Globalisation or Recolonisation?) एक ऐसे समय में आई है जबकि "वैश्वीकरण" की तथाकथित प्रक्रिया को भारत में "एकदशक" से अधिक का समय हो चुका है । विश्व व्यापार संगठन अस्तित्व में आकर "वैश्वीकरण" को नये आयाम प्रदान कर रहा है । "वैश्वीकरण" शब्द के साथ दो शब्द और चर्चा में हैं, "निजीकरण" और "उदारीकरण" । इन शब्दों का प्रचलन इतना साधारण हो गया है कि शासक तथा शासित वर्ग के बुद्धिजीवियों (तथा अन्य कई "किस्म" के दावा करने वाले या प्रतीत होने वाले), संस्थाओं, राजनैतिक पार्टियों द्वारा लगभग एक ही समय, एक ही स्वर में इनका जाप किया जा रहा है । वर्ग अंतर्य को धूमिल करने के बाद जो चीज शेष बचती है उससे दुनिया के शासकों को भला क्या आपत्ति हो सकती है !

नीरज जैन की यह पुस्तक उन्हीं तमाम भ्रान्तियों तथा धारणाओं का निर्माण करती है जिनके खिलाफ संघर्ष करने का लेखक तथा प्रकाशक अपने संकल्प की घोषणा तथा "आम जनता" से लड़ने का आह्वान करते हैं । लेखक तथा प्रकाशक घोषणा करते हैं कि वे "साधारण लोग" हैं बिल्कुल 'जनता की तरह' । उनका विश्वास है कि "साम्राज्यवादी वैश्वीकरण" का ''विकल्प'' है, जिसका "प्रत्यक्षीकरण" कामगारों (working people), विद्यार्थियों तथा जनपक्षधर बुद्धिजीवियों के एकसाथ आने तथा "सचेत-पूर्वक" अपने भाग्य को स्वयं अपने हाथों में लेने से होगा । लेखक और प्रकाशक को "एहसास" है कि ऐसे शक्तिशाली देशव्यापी आन्दोलन का निर्माण, जिसका नज़रिया "अन्तर्राष्ट्रवादी" हो कितना दुष्कर है । वे बताते हैं कि भारतीय शासक वर्ग तथा साम्राज्यवादी शक्तियों की "सांठगांठ" (collusion) के खिलाफ संघर्ष करने में ये कितना "महत्वपूर्ण" है कि "साधारण लोग" स्वयं "पहलकदमी" लें । विश्वास व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि विशाल वृक्ष भी नन्हें बीजों से ही पैदा होते हैं । इनकी ये बात ठीक है, लेकिन गैर मार्क्सवादी विचारों के विष वृक्ष भी नन्हें बीजों से ही विकसित होते हैं, इसलिए ये आवश्यक हैं कि ऐसे विष वृक्षों को जन्म देने वाले बीजों को पनपने से पहले ही नष्ट कर दिया जाए ।

हमारी जानकारी में इस पुस्तक के लेखक एक मार्क्सवादी (यदि वे भूतपूर्व या अभूतपूर्व न हो गये हों तो) हैं। यही से वो आलोचना पैदा होती है जो प्रस्तुत लेख की विषय वस्तु बनती है, अन्यथा एक गैर-सरकारी संगठन (NGO) के दृष्टिकोण से लिखी गयी पुस्तक मानकर इसकी उपेक्षा की भी जा सकती थी । एक मार्क्सवादी, समाज में, साम्राज्यवाद विरोध के नाम पर अर्नगल प्रचार करें, यह निश्चित रूप से चिन्ता व गम्भीरता का कारण बनता है ।

निश्चित रूप से, प्रत्येक मार्क्सवादी (यहां हमारा अभिप्राय प्रत्येक स्थान पर मार्क्स - लेनिन - माओ विचारधारा को मानने वालों से है) से यह उम्मीद की जाती है कि वो मार्क्सवादी सूत्रों का जुमलों की तरह प्रयोग न करें, प्रत्येक पृष्ठ पर मार्क्सवादी

सिद्धान्तों की कसमें ना खायें । मार्क्सवादी सिद्धान्तों का रचनात्मक ढंग से प्रयोग करें और ऐसी भाषा में घटना – परिघटना को समझायें कि प्रत्येक मेहनतकश के लिए सुगम व सहज हों । परन्तु यदि कोई मार्क्सवादी, मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों, अवधारणों को ही तिलांजलि देने लगे तो उसे क्या कहा जाये ? इससे भी ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि नीरज लगभग उन्हीं जुमलों और शब्दावली का प्रयोग करते हैं जो कि NGO वादी साहित्य में प्रचुरता से उपलब्ध होती है। यह माना जा सकता है कि प्रस्तुत पुस्तक एक लोकप्रिय लेखन (Popular Writing) है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक इसकी आढ़ में गैर मार्क्सवादी, गैर वैज्ञानिक धारणाओं व सिद्धान्तों को पेश करें। लोकप्रिय लेखन का अर्थ यह तो नहीं ही बनता है कि लेखक सत्य को अर्द्ध सत्य में तब्दील कर दें, कि इतिहास में से महत्वपूर्ण तथ्यों को गायब अथवा नजरअंदाज कर दें । संघर्षों के उन रूपों की प्रशंसा करें जो कि अपने वर्ग अन्तर्य मे गैर सर्वहारा है । संघर्षों की धार को इस तरह से मोड़ दे कि वो भोथरी हो जाये।

यह सही है कि आज समाज में 'समाजवाद', 'कम्युनिज्म', 'सर्वहारा तानाशाही'. .... के प्रति आम जनता में पूर्वाग्रह मौजूद है । जनता के पूर्वाग्रहों के मद्दे नज़र हम लोकप्रिय लेखन में इनसे परहेज करते हुए, अपनी बात दूसरे शब्दों में कह सकते है । परन्तु यह पुस्तक आम जनता के लिये नहीं है । आम जनता अंग्रेजी में 240 पृष्ठ की किताब नही पढ़ती है। यह किताब बुद्धिजीवियों के लिये है । ऐसे लोग 'समाजवाद', 'कम्युनिस्ट पार्टी', 'सर्वहारा-तानाशाही', 'बुर्जुआ - तानाशाही'..... आदि शब्दों एवं उनके पीछे की धारणाओं से परिचित होते हैं । अगर हम अपने लेखन में उक्त बातों को नहीं भी इस्तेमाल करें तब भी ऐसे पाठक तुरन्त समझ लेते कि यह मार्क्सवादियों का लेखन है । अतः ऐसे पाठकों के लिये कोई अन्तर नही पड़ता कि मार्क्सवादी शब्दावली का इस्तेमाल हो रहा है कि नहीं । यही लोग इस पुस्तक के पाठक है । इनके बीच ठोंक के अपनी बात कहने की जरूरत है ।

हां, पुस्तक के उन अंशों की प्रशंसा की जानी चाहिये जहां लेखक ने सरकारी और बुर्जुआ मीडिया द्वारा फैलायी जाने वाली धारणाओं, मिथकों का खण्डन तार्किक ढंग से किया है । पुस्तक की भाषा में प्रवाह है, जो कि पुस्तक को पठनीय बना देता है ।

आठ अध्यायों में बंटी यह पुस्तक मूलतः तीन बातों के इर्द-गिर्द घूमती है ।
प्रथम, "वैश्वीकरण क्यों?" ''कब'' और ''कैसे''
द्वितीय, तीसरी दुनिया तथा भारत का पुनर्उपनिवेशीकरण या आर्थिक उपनिवेशी करण
तृतीय, "जनता पर प्रभाव" और "जनता" द्वारा प्रतिरोध ।
इसी क्रम में, हम भी अपनी बातों को रखेंगे।

I

वैश्वीकरण की टुटपुंजिया अवधारणा

नीरज अपनी पुस्तक में वैश्वीकरण की जिस अवधारणा को पेश करते हैं उसके अनुसार वैश्वीकरण विश्व इतिहास में बीसवीं सदी के आठवें व नवें दशक की परिघटना है। वे फरमाते हैं,

"इस बीच, 1980 के दशक में विश्व में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे । इन परिवर्तनों से जो चीज सामने आई वह विश्व अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण के नाम से जानी गई" (पृष्ठ -11, पैरा -2, अनुवाद हमारा)

आगे के पृष्ठों में, वे अपनी "वैश्वीकरण" की अवधारणा को अधिक खुलकर

सूत्रबद्ध करते हैं,

''और इस तरह : वैश्वीकरण

इन विकासक्रमों ने विश्व अर्थव्यवस्था को, अस्सी के दशक के मध्य में वैश्वीकरण की दहलीज पर पहुंचा दिया । संतृप्त गृह बाजारों से जूझते हुये विकसित देशों ने अब निवेश के अवसरों के लिए छटपटाहट पूर्वक नये बाजारों की तरफ देखना प्रारम्भ किया । इसके साथ-साथ, यह समय भी वही था जब तीसरी दुनिया के मुल्कों के अर्धिक मॉडल भी संकट के शिकार हो गये थे, ये मुल्क अपने पश्चिम ऋणदाताओं के ऋण से बुरी तरह ग्रस्त थे । विकसित देशों के लिए अब आसान था कि वे तीसरी दुनिया के देशों की बांह मरोड़े ताकि वे अपने गृह बाजारों को विदेशी मालों तथा पूंजी के लिये खोलें । इस से भी ज्यादा, अपने दो मुख्य प्रतिद्वन्दीयों सोवियत नेतृत्व वाले साम्राज्यवादी ब्लाक तथा समाजवादी चीन-के आत्मसर्मपण के कारण अब पश्चिमी साम्राज्यवाद लम्बे समय तक, विश्व के दूरदराजके कोनो में भी अपनी पूंजी की सुरक्षा के लिए बेफ्रिक हो सकता था।परिणाम स्वरूप, साम्राज्यवादी मुल्कों की ओर से तीसरी दुनियां के मुल्कों को पूंजी प्रवाह में (विकसित देशों के आपसी पूंजी प्रवाह के अतिरिक्त) बीसवी सदी के अंतिम दशक में उठान आया और यह वर्तमान दशक में भी जारी है। यही वैश्वीकरण के नाम से जाना जाने लगा है ।"

(पृष्ठ 18, पैरा 3, वही, अनुवाद हमारा, जोर मूल मे)

नीरज की वैश्वीकरण की उपर्युक्त अवधारणा के अनुसार माना जाय तो वैश्वीकरण बीसवी सदी के अंतिम दशकों की परिघटना है । क्या यह परिघटना अस्सी के दशक में जन्म ले रही थी ? क्या अस्सी के दशक के पूर्व वैश्वीकरण की प्रवृतियां नहीं थी? अगर पूंजीवाद के मूल चरित्र पर गौर किया जाय तो हम पायेंगे, पूंजीवाद अपने जन्म के साथ ही वैश्वीकरण की प्रवृतियां रखता है । कच्चे माल के स्रोतों की तलाश तथा बाजार के लिए वो सम्पूर्ण विश्व के हर स्थल पर दस्तक देता है और उसे अपने आगोश में समेट लेता है । आइए, देखें मार्क्स – एंगेल्स इस विषय में क्या कहते है,

"अपने माल के लिए बराबर फैलते हुए बाजार की जरूरत के कारण पूंजीपति वर्ग दुनिया के कोने-कोने की खाक छानता है । वह हर जगह घुसने को, हर जगह पैर जमाने को, हर जगह सम्पर्क कायम करने को बाध्य होता है ।

"विश्व बाजार को अपने लाभ के लिए इस्तेमाल कर पूंजीपति वर्ग ने हर देश के उत्पादन और खपत को एक सार्वभौमिक रूप दे दिया है । प्रतिगामियों की भावनाओं को गहरी चोट पहुंचाते हुए उसने उद्योग के पैरों के नीचे से उस राष्ट्रीय आधार को खिसका दिया है जिसपर वह खड़ा था । पुराने जमे – जमाये सभी राष्ट्रीय उद्योग या तो नष्ट कर दिये गये है या नित्य प्रति नष्ट किये जा रहे है । उनका स्थान ऐसे नये - नये उद्योग ले रहे है, जिनकी स्थापना सभी सभ्य देशों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन जाती हैं; उनका स्थान ऐसे नये उद्योग ले रहे है जो उत्पादन के लिए अब अपने देश का कच्चा माल इस्तेमाल नही करते, बल्कि दूर-दूर से लाया हुआ कच्चा माल इस्तेमाल करते हैं; उनका स्थान ऐसे उद्योग ले रहे है जिनके उत्पादन की खपत सिर्फ उस देश में नही, बलिक पृथ्वी के कोने-कोने में होती है । उन पुरानी आवश्यकताओं की जगह, जिन्हें स्वदेश की बनी चीजों से पूरा किया जाता था, अब ऐसी नयी आवश्कताएं पैदा हो गयी हे जिन्हें पूरा करने के लिए दूर-दूर के देशों और भू-भागों से माल मंगाना होता है । **पुरानी स्थानीय और राष्ट्रीय पृथकता और आत्मनिर्भरता का स्थान चौतरफा पारस्परिक सम्पर्क, ने सार्वभौमिक अन्तः निर्भरता ने ले लिया है** ।...

"उत्पादन के तमाम औजारों में तीव्र उन्नति और संचार साधनों की विपुल

सुविधाओं के कारण पूंजीपति वर्ग सभी राष्ट्रों को, यहा तक कि बर्बर से बर्बर राष्ट्रो को भी सभ्यता की परिधि में खींच लाता है । उसके माल की सस्ती कीमत एक ऐसा तोपखाना है जिसके जरिये वह सभी चीनी दीवारों को ढहा होता है, और विदेशियों के प्रति तीव्र और घोर घृणा रखने वाली बर्बर जातियों को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर कर देता है । प्रत्येक राष्ट्र को, इस भय से कि अन्यथा वह लुप्त हो जायेगा, वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अपनाने के लिए मजबूर कर देता है; वह उन्हें मजबूर करता है कि, जिसे वह सभ्यता कहता है, उसे वह भी अपने-अपने बीच कायम करे, अर्थात् खुद पूंजीपति बन जायें । **संक्षेप में, पूंजीपति वर्ग सारे जगत को अपने ही सांचे में ढाल देता है ।**

"..... जिस तरह पूंजीपति वर्ग ने देहातों को शहरों का आश्रित बना दिया है, उसी तरह उसने बर्बर और अर्द्ध बर्बर देशों को सभ्य देशों का, कृषक राष्ट्रों को पूंजीवादी राष्ट्रों का, पूरब को पश्चिम का आश्रित बना दिया है ।"

('कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', प्रगति प्रकाशन मास्को पृष्ठ 40-41, जोर हमारा)

मार्क्स और एंगेल्स, पूंजीवाद की इस वैश्विक प्रवृत्ति पर चर्चा सन् 1848 में कर रहे थे । आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व । मार्क्स - एंगेल्स की प्रस्थापना की तुलना नीरज की प्रस्थापना से करें तो हम पायेंगे, नीरज वैश्वीकरण के नाम पर पाठकों की आंख में धूल झौंक रहे हैं । वैश्वीकरण के नाम पर पूंजीवाद के मूल चरित्र पर पर्दा डाल रहे है । अठाहरवी, उन्नीसवी और बीसवी सदी में दुनिया में जो घटा उससे बरबश ध्यान हटा रहे है । एक मार्क्सवादी के लिए वैश्वीकरण की परिघटना, पूंजीवाद के जन्म के साथ जुड़ी हुई परिघटना है । छद्म मार्क्सवादियों, "जनपक्ष धर बुद्धिजीवियों" गैर सरकारी संगठनों के संचालको, सरकारी विद्धानों, साम्राज्यवाद के बेशर्म वकीलों के लिए यह परिघटना हाल-फिलहाल के दशकों की हो सकती है । नीरज, बुर्जुआ पत्रिकाओं तथा विद्धानों के उद्धरण, तथ्य देते-देते उनकी वैश्वीकरण की धारणा को भी प्रस्तुत करने लगते है, बस होता इतना है कि वे वैश्वीकरण की खिलाफत करते हुए, भर्त्सना करते हुए, यह सब कुछ करते है ।

नीरज की वैश्वीकरण की थीसिस, जिस साम्राज्यवाद की आक्रमकता तथा उसकी प्रभुत्व की प्रकृति और बीसवी सदी में उसकी भूमिका को कम करके प्रस्तुत करती है । आठवें दशक के पूर्व के वर्षो में साम्राज्यवाद के कुकर्मो को इतिहास का कोई भी विधार्थी भली भांति जानता है।

हां, जहां तक, पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था साम्राज्यवाद का वैश्वीकरण के सन्दर्भ में सैद्धांतिक अवस्थिति का सवाल है, उसे बहुत ही सारगर्भित ढंग से लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' में व्यक्त किया है ।

"हम ऐसे स्रोतों के एक घने जाल को तीव्र गति से बढ़ते देखते है, जो सारे देश में फैला हुआ है, जो सारी पूंजी तथा सारी आय को संकेंद्रित कर रहा है, हजारों हजार बिखरे हुए आर्थिक उद्यमों को एक ही राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में, **फिर विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बदल रहा है ।"**

(पृष्ठ 41, 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था', लेनिन की संकलित रचनाए - चार खंडो में, खण्ड - 2, प्रगति प्रकाशन, जोर हमारा)

स्पष्ट तौर पर, बीसवी सदी में जब खुली होड़ का पूंजीवाद, इज़ारेदार पूंजीवाद अर्थात साम्राज्यवाद में तब्दील हो गया तो वैश्वीकरण की प्रक्रिया की गति और तीव्र हो गई। इसके साथ ही माल निर्यात के स्थान पर पूंजी निर्यात ने लेनिन के शब्दों में "असाधारण महत्व" ग्रहण कर लिया है । पूंजी निर्यात के साथ वैश्वीकरण की गति अति तीव्र होने लगती है ।

"मार्क्सवादी" नीरज मार्क्सवाद की बुनियादी बातों को भुलाकर जिस "वैश्वीकरण" की अवधारणा को प्रस्तुत कर रहे है वो गैर मार्क्सवादी है, NGO वादी अवधारणा है ।

जहां तक अस्सी के दशक में आये परिवर्तनों का सवाल है; वे दूसरे विश्वयुद्ध के बाद दुनिया में गतिमान विभिन्न धाराओं-उपधाराओं की एक मुकाम पर पहुंचने के सूचक है । ये तमाम प्रक्रियायें यकायक बीसवी सदी के नवें दशक में पैदा होकर इतिहास में महत्वपूर्ण परिवर्तन नही करने लगती है ।साम्राज्यवाद के साथ तीसरी दुनिया के सम्बधों को लिया जाय तो वे औपनिवेशिक - नव औपनिवेशिक चरण से गुजरते हुए अर्थिक नव औपनिवेशिक चरण में प्रवेश कर गये है (इस विषय पर चर्चा हम आगे के पृष्ठों में करेंगे) । सत्तर के दशक के अंतिम वर्षो में दिखाई देने वाली समाजवाद की पराजय, स्टालिन की मृत्यु के बाद, सोवियत संघ में पूंजीवादी पुर्नस्थापना तथा उसके सामाजिक साम्राज्यवाद में तब्दील होने के साथ ही प्रारम्भ हो गई थी, चीन में 1976 में माओ की मृत्यु के बाद पूरी दुनिया में समाजवाद वक्ती तौर पर पराजित हो गया था । इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के कारण साम्राज्यवाद पुनः आक्रमक स्थिति में आने लगा । और फिर अस्सी के दशक के अंतिम वर्षो में सोवियत संघ के नेतृत्व वाला सामाजिक साम्राज्यवादी खेमा बिखर गया । जिस कारण से अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिम साम्राज्यवाद आक्रमक स्थिति में आता गया ।

तीसरी दुनिया के देश जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक-एक कर आजाद हुए थे, उनकी स्थिति भी अस्सी के दशक के आते-आते डॉवाडोल होने लगी । इन सभी देशों ने अपने यहां पूंजीवादी विकास के विभिन्न नामों से मांडल चुने थे और वे विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था के दायरे में विकास कर रहे थे। पूंजीवादी विकास का रास्ता चुनने के फलस्वरूप वो संकट आना ही था जो अस्सी के दशक में विभिन्न तीसरी दुनिया के मुल्कों में आया। समाजवादी चीन और सोवियत सामाजिक साम्राज्यवादियों के रहते, तीसरी दुनिया के शासकों के समक्ष विकल्प मौजूद थे जिसका इस्तेमाल वे करते रहे थे । लेकिन तीसरी दुनिया के मुल्क कभी भी साम्राज्यवाद के प्रभाव से मुक्त नहीं थे । अंतः यह कहना कि "वैश्वीकरण" के कारण इन देशों का पुनर्उपनिवेशिकरण हो रहा है, गलत है। यह थीसिस साम्राज्यवाद के प्रति नीरज की गलत अवधारणा से पैदा होती है । अपनी आजादी के बाद (स्पष्ट तौर पर आजादी से तात्पर्य राजनैतिक आजादी से होता है आर्थिक आजादी या पूर्ण आजादी विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का अंग बने रहते हुए तीसरी दुनिया के किसी भी मुल्क के लिए सम्भव नहीं है । कृपया अधिक चर्चा के लिए लाल सलाम का अंक 3 देखें।) ये सभी मुल्क विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़े हुए थे । "वैश्वीकरण" के हिस्सेदार थे । तकनीक, पूंजी, मशीन के आयात व अपने माल निर्यात आदि के लिए साम्राज्यवादी (चाहे वो संयुक्त राज्य अमेरीका के नेतृत्व वाला अथवा सोवियत संघ के नेतृत्व वाला साम्राज्यवाद हो) देशों पर आश्रित थे । और ये साम्राज्यवादी मुल्क "ऋण" अथवा "सहायता" के नाम पर, तीसरी दुनिया के मुल्कों का शोषण करते रहे हैं ।

इस रोशनी में नीरज की "वैश्वीकरण" की धारणा को देखा जाय तो वो टुटपुंजियां ही साबित होती है । एन.जी.ओ. साहित्य से उधार ली हुई प्रतीत होती है ।

खैर ! अब हम "वैश्वीकरण" की पूरक थीसिस, जो वैश्वीकरण पर प्रश्न करते हुए आती है "पुनर्उपनिवेशीकरण" को लेगें ।

II

पुनर्उपनिवेशीकरण : एक अनैतिहासिक नज़रिया

नीरज अपनी पुस्तक के शीर्षक के अनुरूप ही अपनी पुस्तक में वैश्वीकरण या पुन - र्उपनिवेशीकरण की थीसिस को पेश करते है । उनके अनुसार अस्सी के दशक से तीसरी

दुनिया के देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण करना प्रारम्भ किया, (और भारत ने 1991 से), वैश्वीकरण और कुछ नहीं वस्तुतः पुनर्उपनिवेशीकरण है । भारत सहित सभी तीसरी दुनिया के देश, अपने पूर्व साम्राज्यवादी शासकों के आर्थिक उपनिवेश बन रहे है, (यहां वे जिन शब्दों का प्रयोग करते है, वे भी कम दिलचस्प नही है- वे कही पुनर्उपनिवेश, कही आर्थिक उपनिवेश (Economic Colony) तो कही नव उपनिवेश (Neo Colony) शब्दों का मनचाहा उपयोग करते है, खैर, इस शब्दचातुर्य पर हम टिप्पणी आगे के पृष्ठों में करेंगे)। नीरज के कथनानुसार:

> "वैश्वीकरण के बारे में निष्ठुर सच यह है कि यह कुछ और नही बल्कि नये परिधान में **पुनर्उपनिवेशीकरण** है । तीसरी दुनिया के देश उन विकसित या साम्राज्यवादी देशों के जिन्होंने उन्हें पहले प्रत्यक्ष उपनिवेश बनाया था के **आर्थिक उपनिवेश** में तब्दील किये जा रहे है ।" (वही, पृष्ठ 6-7, जोर व अनुवाद हमारा)

इसी तरह, अपनी पुस्तक के तीसरे अध्याय के उपशीर्षक **"तीसरी दुनिया का पुनर्उपनिवेशीकरण"** के निष्कर्ष के बतौर वे लिखते है:

> **"यह औपनिवेशिक लूट के युग की एक बार फिर से वापसी है,** इस अन्तर के साथ कि साम्राज्यवादियों का तीसरा दुनिया पर प्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण नहीं है। हांलाकि इसकी जरूरत भी नही है- उन्होंने तीसरी दुनिया के देशों को विदेशी मुद्रा संकट के जाल में फंसा दिया है और इसलिए वे इस स्थिति में है कि वे तीसरी दुनिया के देशों से अपनी शर्तें लागू करवा सके । तीसरी दुनिया के शासक पूंजी संचय के अपने संकीर्ण स्वार्थों के लिए अपने ऊपर थोपी जा रही शर्तों को स्वीकार कर रहे है ।
>
> "दूसरे शब्दों में, तीसरी दुनिया के देश संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य साम्राज्यवादी देशों के **आर्थिक उपनिवेश** में तब्दील किये जा रहे है ।
> (वही, पृष्ठ 72, अनुवाद व जोर हमारा)

पुनर्उपनिवेशीकरण की थीसिस के लिए नीरज के लिए यह जरूरी है कि वे यह तर्क रखें कि अपनी स्वतंत्रता के बाद तीसरी दुनिया के देशों ने साम्राज्यवाद से मुक्त होकर अपना विकास किया, विकास का यह चरण अलग-अलग मुल्कों के लिए अलग-अलग रहा है। यथा भारत ने साम्राज्यवाद से अलग होकर 91 तक, जब तक अपनी अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण करना प्रारम्भ नही कर लिया तब तक अपनी आर्थिक आजादी को अक्षुण्य रखते हुए देश का विकास किसा । 91 के बाद भारतीय शासक जो साम्राज्यवादियों के दलाल (शब्द चातुर्य की एक और मिसाल, नीरज भारतीय तथा तीसरी दुनिया के शासको के लिए भिन्न अर्थ रखने वाले तीन शब्दों क्रमश दलाल (comprador), संश्रयकारी (collaborator) कनिष्ठ साझेदार (junior partner) का मनचाहा प्रयोग करते है) बन गये है, तब से भारत का पुनर्उपनिवेशीकरण हुआ और भारत आर्थिक उपनिवेश बन गया है । नीरज के शब्दों में:

> "भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण अन्य तीसरी दुनिया के देशों के मुकाबले देर से, 1991 में प्रारम्भ किया... (वही, पृष्ठ 5, पैरा 2, अनुवाद हमारा)

> "पुनर्उपनिवेशीकरण–या वैश्वीकरण–ने पूरी तीसरी दुनिया में अरबों लोगों की आजीविका के लिए विपदाकारी परिणाम पैदा किये है । इन सभी मुल्कों के आम लोगों के द्वारा जीवन स्तर में 60 व 70 के दशकों में जो उपलब्धियां हासिल की गई की थी वे वापस छीनी जा रही है.... (वही, पृष्ठ 7, पैरा 2, अनुवाद हमारा)
>
> "इसी तरह से, भारत के भूरे पनिक शासको ने संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य साम्राज्यवादी ताकतों का, संश्रयकारी (collaborator) बनने का फैसला लिया है । वैश्वीकरण के नाम पर विशाल पश्चिमी निगमों (corporations) और वित्तीय सस्थानों का गलीचे बिछाकर पुष्पाहारों से स्वागत किया जा रहा है ....
> (वही, पृष्ठ 7, पैरा 3, अनुवाद हमारा)

> "इस तरह, वैश्वीकरण के नाम पर, पूर्व उपनिवेशों की अर्थव्यवस्थाएं विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं की दुमछल्ला बनती जा रही है...."
> (वही, पृष्ठ 9, पैरा 3, अनुवाद हमारा)

नीरज की तर्क पद्धति यही है कि अपने पूर्व – शासकों साम्राज्यवादियों – से आर्थिक व राजनैतिक आजादी हासिल करने के बाद; तीसरी दुनिया के शासकों ने पूंजीवादी विकास का रास्ता चुना; बड़ी उपलब्धियां हासिल की; आम जनता के जीवन में बड़े परिवर्तन हुए; 80 का दशक आते-आते तीसरी दुनिया के शासकों द्वारा चुना गया मॉडल संकट ग्रस्त हो गया ; साम्राज्यवादी शक्तियों और संस्थाओं के जाल में तीसरी दुनिया के देश फंस गये; सोवियत संघ और समाजवादी चीन के पतन के साथ; साम्राज्यवादी देशों द्वारा तीसरी दुनिया को तीव्र पूंजीनिर्यात हुआ और इस तरह तीसरी दुनिया का पुनर्उपनिवेशीकरण हो रहा है और वे साम्राज्यवादियों या विकसित देशो के आर्थिक उपनिवेश बनते जा रहे है । इसी तरह उनकी नजर में तीसरी दुनिया के शासक स्वतंत्र से दलाल (इत्यादि) में परिवर्तित होने लगे (भारत के सन्दर्भ में 1991 के बाद भारत के पूंजीपति वर्ग, स्वतंत्र से साम्राज्यवादियों के दलाल में परिवर्तन हो गये हैं) ।

शब्दों, बिम्बों, उदाहरणों के हेर फेर के साथ उनकी पुस्तक की मूल थीम यही है। प्रथम दृष्टया किसी को यह बात ठीक जान पड़ सकती है । लेकिन गौर करने पर यह उसे अर्द्ध सत्य ही प्रतीत होगा । इस पूरी तर्क पद्धति में बीसवी सदी में घटी ऐतिहासिक प्रक्रिया को विकृत कर दिया गया है । राजनैतिक आजादी को आर्थिक आजादी के साथ जोड़कर अस्सी की दशक के पहले के दौर में तीसरी दुनिया के देशो की "पूर्ण" आजादी का भर्म पैदा किया गया है । पहले ऐतिहासिक प्रक्रिया को लिया जाय ।

लेकिन उससे भी पहले, मार्क्सवाद की इतिहास को समझने की पद्धति पर विचार किया जाय ।

मार्क्सवाद का इतिहास को देखने, समझने व तदनुरूप अपने कार्यभारों को निकालने का एक विशिष्ट वैज्ञानिक नज़रिया है ।

मार्क्सवाद हमें बतलाता है कि घटनाएं "अलग-थलग" "यकायक" नहीं घटती है। प्रत्येक घटना-परिघटना ठोस ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है ।

इतिहास को घटनाओं का संग्रह नहीं समझा जाना चाहिए, मार्क्सवाद हमें बतलाता है कि अगर हम घटनाओं व परिघटनाओ के पीछे के ठोस ऐतिहासिक-भौतिक कारणों को नहीं देखेंगे, नहीं समझेंगे तो हम जो भी नतीजे हासिल करेंगे, जो भी कार्यभार तय करेंगे- वो सारतः गैर सर्वहारा, बुर्जुआ या पेटी बुर्जुआ नतीजे और कार्यभार होंगें ।

मार्क्सवादी नज़रिया त्याग देने का अर्थ बुर्जुआ नज़रिया अपनना होता है । ऐसा कोई करना चाहता हो या ना करना चाहता हो, बदनीयति से नहीं बल्कि "भलमनसहात" में ही कोई ऐसा करना चाहता हो तो भी-वो सर्वहारा के हितों के खिलाफ; बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ के हितों की सुरक्षा और सेवा कर रहा होगा। लेनिन के शब्दों में

> "... इसलिए **केवल ये रास्ते** ही रह जाते है : या तो बुर्जुआ विचारधारा को चुना जाये या समाजवादी विचारधारा को । बीच का कोई रास्ता नही है (क्योंकि मानवजाति ने कोई "तीसरी" विचारधारा पैदा नही की है, और इसके अलावा जो समाज

वर्ग विरोधों के कारण बंटा हुआ है, उसमें कोई गैर वर्गीय या वर्गोपरि विचारधारा कभी नहीं हो सकती)। अतएव समाजवादी विचारधारा के महत्व को **किसी भी** तरह कम करके आंकने, उससे **जरा भी मुंह मोड़ने** का मतलब बुर्जुआ विचारधारा को मजबूत करना होता है।"

(लेनिन, क्या करें ? पृष्ठ 58, जोर लेनिन का, प्रगति प्रकाशन)

ऐतिहासिक भौतिकवाद को मार्क्सवाद में से निकाल देने का अर्थ है, मार्क्सवाद को आदर्शवाद या सारसंग्रहवाद में बदलना। और जैसा अभी हमने लेनिन को उदधृत किया उनके अनुसार **जरा भी** मुंह मोड़ने का अर्थ बुर्जुआ विचारधारा को मजबूत करना होता है।

(क्योंकि नीरज हमारी जानकारी में मार्क्सवादी है इसलिए उन्हें मात्र स्मरण कराने के लिए, हमें ये बातें मजबूरन कहनी पड़ रही है।)

औपनिवेशिक व्यवस्था के खात्मे के साथ किस तरह से तीसरी दुनिया के देशो के साम्राज्यवाद के साथ संबधों में परिवर्तन आता गया है, बीसवी सदी में यह प्रक्रिया किस तरह से घटी है, इसका ठीक व सटीक वर्णन भारत की कम्युनिस्ट लीग (माले) [CLI (ML)] के मुखपत्र लाल तारा के अंक 3 में निम्न शब्दों में किया गया है,

"द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तक साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका के देशों के उत्पीड़न, लूट और शोषण के लिए प्रधानतः पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था पर निर्भर रहा था। लातिन अमेरिका के अधिकांश देश अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों के चलते औपचारिक रूप से स्वतंत्र थे पर वे अमेरिकी साम्राज्यवाद के नव उपनिवेश बने हुए थे और कुल मिलाकर उनकी आजादी नाम मात्र की ही थी। समग्रता में, पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था ही एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका में साम्राज्यवाद का मुख्य स्तम्भ थी।

"द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक बाद के समय में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की शक्तिशाली धारा ने समाजवादी खेमे के समर्थन से और साम्राज्यवादी ताकतों के बीच बदले हुए शक्ति सन्तुलन तथा उनके आपसी हितों के टकरावों से फायदा उठाते हुए एशिया और अफ्रीका से औपनिवेशिक शासन का समूल नाश शुरू कर दिया। सातवें दशक के प्रारम्भ तक पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था प्रायः छिन्न भिन्न हो चुकी थी।..

"जैसे - जैसे पुरानी औपनिवेशिक व्यवस्था इतिहास के रंगमंच से तिरोहित होने लगी, नव औपनिवेशिक व्यवस्था उसकी जगह लेने लगी । लातिन अमेरिका में नवउपनिवेश एक लम्बे समय से मौजूद रहे थे। अब साम्राज्यवाद एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों के शोषण और उत्पीड़न के लिये भी **नव औपनिवेशिक** तरीकों पर ज्यादा निर्भर करता था।

"युद्धोत्तर वर्षों में अपने को औपनिवेशिक शासन से मुक्त कर लेने वाले देशों की राजनैतिक आजादी और ज्यादा सुदृढ़ीकरण की ओर बढ़ी। इनमें से अधिकांश देशों में सत्ता में **आये पूंजीपति वर्ग ने राज्य सत्ता का इस्तेमाल अनौपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को पूरा करने के लिए किया** और इन देशों की अर्थव्यवस्थाएं अधिक आत्मनिर्भरता की दिशा में आगे बढ़ी। ब्राजील, मेक्सिको, अर्जेन्टीना, भारत, मिश्र, अल्जीरिया, इण्डोनेशिया जैसे बहुत से देशों में आर्थिक विकास बहुत हद तक परिपक्व हुआ और वे अर्ध औद्योगिक कृत समाज बन गये। इसके अतिरिक्त तीसरी दुनिया के देशो के बीच परस्पर एकजुटता बढ़ी। वे सामूहिक तौर पर साम्राज्यवादियों के साथ अपनी सौदेबाजी

की क्षमता प्रदर्शित करने लगे। 1971 में ओपेक देशों की साम्राज्यवादियों को खुली चुनौती एक ऐसी घटना थी जिसने भविष्य के परिवर्तनों का संकेत दे दिया। साम्राज्यवादियों के लिए तीसरी दुनिया के देशों पर परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण रखना उत्तरोत्तर अधिक कठिन होता गया तथा जो वर्चस्व के नव औपनिवेशिक तरीके का प्रमुख अंग था। नव औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्त की शुरूवात हो चुकी थी।....

"उपनिवेशवाद और नवउपनिवेशवद के दौर को साम्राज्यवाद के युग के एक चरण के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रत्यक्ष राजनीतिक शासन, जैसा कि उपनिवेशों में था और परोक्ष राजनीतिक नियंत्रण, जैसा कि नव उपनिवशों में था, इस चरण की प्रधान अभिलाक्षणिक विशेषताएं रही है।.....

"तीसरी दुनिया के सभी देशों के लिए राजनीतिक आजादी हासिल करने के काम के पूरा होने के साथ ही राजनीतिक नियंत्रण के जरिये हुक्म चलाने और उत्पीड़न करने की साम्राज्यवाद की ताकत अंत हो जायेगा।... लेकिन इन देशों की उत्पादक शक्तियां अभी भी कमजोर है। साम्राज्यवादियों के पास अभी भी विकसित उत्पादक शक्तियों की ताकत मौजूद है। पूंजीवादी व्यवस्था के तर्क के अनुसार, उत्पादक शक्तियों के स्तर में यह अन्तर यह निश्चित कर देता है कि अल्प विकसित देशों का शोषण और उनके साथ धौंसपट्टी और धमकियां देना जारी रहेगा। यह साम्राज्यवादियों के लिए विश्व स्तर पर अतिरिक्त मूल्य विनियोग का बड़ा हिस्सा सुनिश्चित कर देता है। इन देशों में राज्य सत्ता के नियंत्रण से वंचित होने के बाद साम्राज्यवादी ढांचा मुख्यतः अपनी आर्थिक शक्ति के सहारे टिका हुआ है। राजनीतिक वर्चस्व और जोर-जबरदस्ती के तत्व अभी भी बने हुए है लेकिन वे इन देशों के साम्राज्यवादी शोषण में गौण भूमिका निभाते है।

"इन देशों का पूंजीपति वर्ग अब शासक वर्ग है, इसने इन देशों में अपने वर्ग शासन का सुदृढ़ीकरण कर लिया है, और अब इसकी सकारात्मक ऐतिहासिक भूमिका निःशेष हो चुकी है। उपनिवेशवाद और नव उपनिवेशवाद के चरण में हांलाकि अस्थिरता पूर्ण तरीके से ही सही, पर यह वर्ग दूसरे उत्पीड़ित वर्गों के साथ मिलकर राजनीतिक आजादी के लिए लड़ा था। इतिहास की गति ने इसे दूसरे उत्पीड़ित वर्गों के साथ जोड़े रखाथा। लेकिन अब इसका रास्ता दूसरे उत्पीड़ित रास्ते से विलग हो जाता है। **इन देशों के बुर्जुआ शासकों के वर्ग हित का यह तकाजा है कि वे स्वेच्छा से विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में शामिल हो जायें । क्या वे इससे भिन्न कुछ कर सकते है ? क्या वे अपने देश में पूंजीवादी व्यवस्था खड़ी करके विश्व स्तर पर उसी व्यवस्था के खिलाफ खड़े हो सकते है? नही, उन्हें अपने - अपने भूतपूर्व मालिकों के साथ उनके छोटे भाइयों और कनिष्ट साझेदारों के रूप में शामिल होना पड़ेगा ।.....**

"केवल सर्वहारा और मेहनतकश अवाम ही इन देशों को साम्राज्यवाद और पूंजी के जुए से मुक्त कर सकते है इन देशो में ये दोनों कार्यभर अविभाज्य है और ये इकट्ठे ही पूरे किये जायेंगे । केवल सर्वहारा और मेहनतकश अवाम ही इन देशों में इतिहास की धारा को आगे बढ़ा सकते है। और ऐसा वे केवल पूंजी के शासन से लड़कर और विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से पूर्ण विच्छेद करने के द्वारा ही कर सकते है। ऐसा वे अपने देशों में समाजवादी क्रांतियां सम्पन्न करके ही कर सकते है।

"साम्राज्यवाद के युग के इस नये चरण की, जिसे **आर्थिक नव उपनिवेशवाद**

का चरण कहा जा सकता है, यही अभिलाक्षणिक विशेषताएं है । इस नये चरण के दौरन विश्व सर्वहारा क्रांति के मार्ग की यही दिशा होगी ।'' (लाल तारा -3, पृष्ठ 80 - 84, सम्पादक-रामनाथ, अगस्त 1987, पैरा 3, जोर हमारा)

यह है, 1987 में जब बकौल नीरज के ''वैश्वीकरण'' की प्रक्रिया भारत में अभी शुरू नही हुई थी, किया गया तीसरी दुनिया की स्थिति कर सटीक मूल्यांकन, जो मार्क्सवाद की विश्लेषण की द्वन्द्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल करते हुए तीसरी दुनिया के पूंजीपति वर्ग द्वारा अपनी राजनैतिक आजादी के सुदृढ़ीरण को रेखांकित करते हुए, इनकी अर्थव्यवस्थाओं पर साम्राज्यवादी नियंत्रण को संज्ञान में लेना नही भूलता और इसीलिए तीसरी दुनिया के देशों को **अर्थिक नव उपनिवेश** के रूप में चिन्हित करता है । इस विश्लेषण की नजर से देखा जाय तो तीसरी दुनिया के देश कभी भी साम्राज्यवादी से मुक्त नही रहे है, पहले उपनिवेश – नवउपनिवेश – फिर अर्थिक नवउपनिवेश । अत : नीरज की पुनर्उपनिवेशी करण की थीसिस दो कौढ़ी की है, भ्रम फैलाने वाली है । नीरज कहते है यंह 'औपनिवेशिक लूट के युग की एक बार फिर से वापसी हैं', क्या यह सत्य है, नही, साम्राज्यवादी लूट और शोषण बरकरार रहा है, फर्क उसके रूप व मात्रा के बदलने में हैं ।

हालांकि उसके रूप में परिवर्तन, इतिहास में, महत्वपूर्ण बदलाव का सूचक है जैसा कि हमारे द्वारा दिये गये विस्तृत उद्धरण से स्पष्ट है ।

नीरज की थीसिस के दोनों ही आधार वैश्वीकरण और पुनर्उपनिवेशीकरण, गलत धारणाओं पर आधारित है । जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि वैश्वीकरण की परिघटना अस्सी व नब्बे के दशक में शुरू नही हुयी है, यह पूंजीवाद के उद्भव से जुड़ी हुई परिघटना है, इसी तरह पुनर्उपनिवेशीकरण की धारणा भी इतिहास की अनैतिहासिक समझदारी का परिचायक है ।

वैसे, ऐसा नही है कि श्रीमान नीरज को इस बात का भान नही है कि वे पुनर्उपनिवेशीकरण की बात करके जिस इमारत को खड़ा कर रहे है वो कितनी कमजोर नीवं पर खड़ी है । इसलिए वे इन वाक्यो का प्रयोग भी जहां तहां करते है: **''नये परिधान में पुन उपनिवेशीकरण'', ''इस अन्तर के साथ कि साम्राज्यवादियों का तीसरी दुनिया पर प्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण नही है'', ''अर्थिक उपनिवेश में तब्दील हो गये है''**, इत्यादि, इत्यादि । क्योकि उन्हे अपनी थीसिस को पेश करना है इसलिए वे पहले ''वैश्वीकरण'' की प्रचलित बुर्जुआ व NGO वादी धारणा को उठाते है, फिर इतिहास को गढ़कर साबित करते है कि तीसरी दुनिया के देश आर्थिक व राजनैतिक दोनों तौर पर स्वतंत्र थे, और अब शासकों की गद्दरी के चलते उनका ''पुनर्उपनिवेशीकरण'' हो रहा है ।

पुनर्उपनिवेशकरण के लिए यह भी जरूरी है कि वे देर सबेर ये भी मानें कि तीसरी दुनिया के शासकों ने अपनी राजनैतिक आजादी या सम्प्रभुता को बेच दिया है । और इसी शब्दावली का प्रयोग वे करते भी है ।

अजैन्टीना के संदर्भ वे अपनी पुस्तक के तीसरे अध्याय के उपशीर्षक ''तीसरी दुनिया का पुनर्उपनिवेशीकरण'' में वे कहते हैं

''अजैन्टीना ने, वास्तव में अपनी राष्ट्रीय संप्रभुता को खो दिया है''

(पृष्ठ 70, वही)

इसी तरह वो भारत की चर्चा करते वक्त एक स्थान पर (पृष्ठ 45) भारत की विभिन्न सरकारों को **''राष्ट्रीय पराधीनता व शर्म की सरकारें''** मानते हैं।

नीरज की पूरी थीसिस पंचमेल खिचड़ी है। जिसमें विभिन्न किस्म की अंतर्विरोधी बातें एक साथ ही कही जाती है।

तीसरी दुनिया के शासकों के चरित्र के सन्दर्भ में भी वे यही हरकत करते हैं। कही उन्हें दलाल, तो कही संश्रयकारी, तो कहीं उन्हें जूनियर पार्टनर घोषित करते हैं।

तीसरी दुनिया के शासकों को दलाल घोषित करने का अर्थ है, इन देशों के शासक वर्ग, पूंजीपति वर्ग की स्वतंत्र हैसियत से इन्कार करना। इसका दूसरा अर्थ है इन देशों की राजनैतिक आजादी को अस्वीकार करना। तीसरी दुनिया के देशों की राजनीतिक आजादी को नकारते ही, पुनर्उपनिवेशीकरण की थीसिस को पुष्टि हो जाती है। लेकिन नीरज तो मानते हैं कि ''प्रत्यक्ष राजनैतिक नियंत्रण'' की आवश्यकता आज के दौर में खत्म हो गई है। इस तरह पुनर्उपनिवेशीकरण की पूरी थीसिस ही अंतर्विरोधी धारणाओं की शिकार है और अनैतिहासिक है।

आज की तीसरी दुनिया को आर्थिक नव उपनिवेश न कहकर, आर्थिक उपनिवेश कहना, ऐतिहासिक प्रक्रिया को नकारना है। इतिहास की अग्रगति को पश्चगति में तब्दील करना है। उपनिवेश-नवउपनिवेश – आर्थिक नवउपनिवेश- एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का घोतक है जो दिखलाता है कि तमाम किन्तु परन्तु के बावजूद दुनिया आगे बढ़ी है, साम्राज्यवाद को शोषण-उत्पीड़न के राजनैतिक प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण के तरीके को तीसरी दुनिया के देशों की जनता के संघर्षों तथा अन्य कारणों से छोड़ना पड़ा है। बीसवीं सदी का अंत आते-आते साम्राज्यवाद के लिए सामान्यतः किसी देश को राजनैतिक तौर पर प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण करना सम्भव नहीं रह गया है। नीरज ''पुनर्उपनिवेशीकरण'' की अपनी थीसिस के जरिए इतिहास की गति को उल्टी साबित करते हैं । तीसरी दुनिया के देश नीरज द्वारा प्रस्तुत अस्सी के दशक की ''महत्वपूर्ण'' समय सीमा से पहले भी ना तो उस हद तक आजाद थे कि उन्हें आर्थिक व राजनैतिक तौर पर पूर्णआजाद घोषित कर दिया जाए और न ही अब वे औपनिवेशिक काल की भांति पूर्ण गुलाम होने जा रहे हैं। अस्सी व नब्बे के दशक में साम्राज्यवाद के पुनः आक्रमक होने के बावजूद अगर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समूचे कालखण्ड को लिया जाय तो हम पायेंगे कि दुनिया आगे बढ़ी है, साम्राज्यवाद को अपने शोषण के रूप को बदलने को बाध्य होना पड़ा है, राजनैतिक नियत्रण का तरीका कमजोर पड़ता गया है । यह समूचा कालखण्ड इतिहास की अग्रगति को दर्शाता है । नीरज गैर मार्क्सवाद का चश्मा अगर उतार लें तो उन्हें यह अग्रगति दिखाई देने लगेगी और वे अपनी बेतुकी थीसिस को इस निगाह से देखेंगे कि उनके मुंह से अनायास निकल पड़ेगा कि ये भी क्या कूपमंडूकता है ।

III

साम्राज्यवाद के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI)

अपनी पुस्तक के तीसरे अध्याय "Opening Third World To FDI Flows" में नीरज प्रत्यक्ष निवेश के सम्बन्ध में इस महत्वपूर्ण बात को नज़र अंदाज कर देते है कि तीसरी दुनिया की उत्पादक शक्तियों के विकास में इसकी एक मुख्य न सही गौण भूमिका रही है। कुछ अन्य लोग इस तर्क को जब बढ़ा चढ़ा कर पेश करते है तो उनके अनुसार प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (या पूंजी निर्यात) करने का साम्राज्यवादियों का मकसद तीसरी दुनिया का विकास करना है तो वे साम्राज्यवाद के शोषण-उत्पीड़न कारी चरित्र पर पर्दा डाल देते है । वे गौण

उत्पाद को मुख्य उत्पाद में बदल डालते है । लेकिन नीरज इतिहास जन्य इस सच्चाई पर चुप्पी साध जाते है कि अपने गौण उत्पाद के रूप में ही सही प्रत्यक्ष विदेश निवेश की तीसरी दुनिया की उत्पादक शक्तियों का विकास किया है । साम्राज्यवादियों ने मुनाफे की हवस से, बाजार व कच्चे माल के स्रोतो पर कब्जे की जरूरत से और तीसरी दुनिया को अपने शोषण उत्पीड़न के जाल में फांसे रहने की वजह से ही प्रत्यक्ष विदेशी निवेश किया । लेकिन किसी भी क्रिया के दो उत्पाद होते है एक मुख्य और दूसरा गौण। FDI के गौण उत्पाद को भूलाना सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत है । इतिहास की गति व विकास से नजरें चुराना है । लेनिन के अनुसार

> **"पूंजी निर्यात उन देशों में पूंजीवादी विकास को प्रभावित करता है, उसकी गति को बहुत तेज कर देता है, जहां निर्यातित पूंजी जाती है ।** इस तरह, पूंजी निर्यात से पूंजी निर्यातकारी देशों का विकास किसी हद तक रूक सकता है । लेकिन वैसा केवल सारी दुनिया में पूंजीवाद के आगे के विकास के फैलाव तथा गहनता से ही हो सकता है।" (पृष्ठ 81, जोर हमारा, 'साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था', खण्ड 2, संकलित रचनाएं चार खंडो में)

लेनिन यहां यह बता रहे है कि पूंजी निर्यात से पूंजीवादी विकास की गति तेज हो जाती है । एक अन्य जगह पर तो लेनिन अपनी इसी पुस्तिका में इस बात को दर्ज करते है कि "पूंजीवाद का विकास सबसे अधिक तेजी के साथ उपनिवेशो में तथा समुद्रपार के देशों में हो रहा है ।" (पृष्ठ 122, वही) "मार्क्सवादी" नीरज FDI (जो कि पूंजी निर्यात ही है) के इस पहलू को अपनी पुस्तक में क्यों नही उठाते है ? किसी भी परिघटना का समग्र विश्लेषण न करना, उसके मुख्य और गौण पहलू को न देखना, वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालने से कतराना एक मार्क्सवादी की नही, निम्न पूंजीवादी विश्लेषक की चिंतन प्रणाली की मुख्य विश्लेषता होती है ।इसी तरह नीरज अपनी पुनर्उपनिवेश की थीसिस को परवान चढ़ाने के लिए FDI को तीसरी दुनिया के शासक वर्गो के दलाल चरित्र से जोड़ते है । FDI का मतलब भारत अथवा तीसरी दुनिया के शासक वर्ग का दलाल होना नही होता है और न ही इसका अर्थ यह निकलता है कि साम्राज्यवाद सामान्य पूंजीवाद में तब्दील हो गया है ।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की चर्चा करते वक्त आप इस "मिथक" की आलोचना करते है कि इससे (FDI से) वस्तुओं के मूल्यों में गिरवट होती है । आप लिखते है कि आज सभी प्रतिद्वन्द्वी इस बात को समझते है कि मूल्यों को गिराने की होड़ से वे सभी बरबाद हो जायेंगे इसलिए वे अन्य चीजों में यथाः विज्ञापन बाजी में, क्षेत्रों के बटवारे, बाजार में भागीदारी के लेकर तो होड़ करते है लेकिन कीमत के बारे में एक न्यूनतम समझदारी का परिचय देते है, एक दूसरे के साथ इस मामले में सहयोग करते है । उदाहरण स्वरूप आप भारत में पेप्सी और कोक द्वारा 300 ml की बोतल की कीमत 9 रू रखने की चर्चा करते है । (पृष्ठ 66, पैरा तीसरा, वही) । एकाधिकार पूंजी के बीच कीमतों के सन्दर्भ में सांठगांठ की बात करना परन्तु होड़ की बात न करने कि नीरज की यह धारणा क्या एकतरफी, सतही और भ्रामक नही है ? क्या साम्राज्यवाद में होड़ समाप्त हो जाती है? होड़ का एक महत्वपूर्ण तरीका अपने उत्पाद के दामों को गिराना क्या समाप्त हो जाता है ? हमारा कहना है कि यह कहना गलत है कि कीमतों की गिरावट एक मिथक है । नीरज का यह कहना भी गलत है कि कीमतों में गिरावट की होड़ केवल नयी उभरते उद्योग की शाखाओं यथा कम्पयूटर साफ्टवेयर और PC उद्योगों में ही दिखाई देती है । क्या सांठगांठ की प्रवृत्ति को बढ़ाचढ़ा कर देखना साम्राज्यवादियों के बीच होड़ को कम कर के आंकना नही हैं? क्या सांठगांठ की प्रवृति जो एक दौर में दिखाई देती है उसे सामान्य नियम में बदलना नही है ?

साम्राज्यवाद में होड़ इजारे दारी में बदल जाती है लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि होड़ समाप्त हो जाती है । होड़ विविध रूप ग्रहण करती है लेकिन होड़ का यह रूप अपने उत्पाद की कीमत को गिराकर दूसरे के उत्पाद को पीटना जारी रहता है । बड़े एकाधिकार उद्योग, संरक्षण प्राप्त "राष्ट्रीय उद्योगों" को इस वक्त जब संरक्षणात्मक तरीके विश्व व्यापार संगठन की संधि की तहत खत्म हो रहे है, पीटने के लिए इस तकनीक का व्यापक प्रयोग करते है । इस प्रयोग के जरिये एकाधिकार का प्रभाव और क्षेत्र बढ़ता जाता है ।

हमें इस सम्बन्ध में लेनिन द्वारा कही गयी बातों पर गौर करना चाहिये । लेनिन कहते है,

> ".. यह विदित है कि कार्टेलों ने एक नये तथा अनोखे किस्म के संरक्षणात्मक महसूलों को जन्म दिया है, अर्थात् जो माल निर्यात कि लिए उपयुक्त होता है, उसे संरक्षण दिया जाता है (एंगेल्स ने पूंजी के तीसरे खण्ड में इस बात का उल्लेख किया है।) यह भी विदित है कि कार्टेलों तथा वित्तीय पूंजी की अपनी एक निराली पद्धति होती है –"मिट्टी मोल माल का निर्यात", जिसे अंग्रेज "माल डौकई" कहते है, अपने देश मे तो कार्टेल बहुत ऊंची इजारेदारी कीमतों पर माल बेचता है, लेकिन विदेशों में उन्हें अपने प्रतिद्वन्दियों का पत्ता कटाने, स्वयं अपना उत्पादन अधिकतम बढ़ाने आदि के लिए बहुत ही कम कीमतों पर बेचता है ।" (पेज 41, वही)

क्या "मार्क्सवादी" नीरज लेनिन की उपर्युक्त बातों से नाइतफाकी रखते है? क्या दुनिया में ऐसा नही घट रहा है?

साम्राज्यवादियों के आपसी अन्तरविरोध

नीरज अपनी पूरी पुस्तक में, साम्राज्यवादियों के बीच इस वक्त मौजूद अंतर्विरोधों की चर्चा नही करते है ।"वैश्वीकरण" के कारणों की चर्चा करते वक्त ही वो अमेरिकी साम्राज्यवाद तथा सोवियत साम्राज्यवाद के बीच के अन्तर विरोध की चलते-चलते चर्चा करते है । नीरज की पुस्तक के हिसाब से देखा जाय तो सोवियत साम्राज्यवाद के पत्तन के बाद, साम्राज्यवादियों के आपसी अन्तरविरोध लुप्त हो गये है । अब बचा है तो अमेरिकी साम्राज्यवाद । नीरज की पुस्तक में खींची गयी दुनिया की तस्वीर में अमेरिकी साम्राज्यवाद, जर्मनी व फ्रांस के नेतृत्व में बने यूरोपीय यूनियन, जापान तथा अन्य साम्राज्यवादियों के बीच कोई अन्तर विरोध नहीं है ।

नीरज ने साम्राज्यवादियों के लिए एक नरम शब्द "विकसित देश" गढ़ रखा है, हांलाकि उन्होंने भी उसे क्या गढ़ा है यह शब्द साम्राज्यवादियों के टुकड़खोर बुद्धिजीवियों की पैदाइश है । यह शब्दावली साम्राज्यवादियों के चरित्र के बारे में भ्रमों का निर्माण करती है। "विकासशील देश", "अल्पविकसित देश " ये "उपाधियां" साम्राज्यवादियों के साथ अर्थिक नव औपनिवेशक सम्बन्धो में बंधे देशों को दी जाती है ।

साम्राज्यवादियों के आपसी अंत विरोध, वर्तमान दुनिया के प्रमुख अंतविरोधों में एक है । यह अंतर्विरोध कितना महत्वपूर्ण रहा है, इसका आभास प्रत्येक इतिहास के विद्यार्थी को है। बीसवी सदी में इसी अंतविरोध के कारण प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध लड़ा गया। बीसवी सदी में इसी अंतविरोध के कारण सीमित संदर्भ में ही (अन्य कारणों के साथ) तीसरी दुनिया के देशो को अपने अर्थिक व राजनैतिक निर्णय लेने के लिए स्थान प्राप्त हो पाया था।

नीरज क्योंकि साम्राज्यवाद के आपसी अंतविरोध के महत्व को नही समझते है इसलिए वे साम्राज्यवादियों की ताकत को बढ़ाचढ़ा कर आंकते है और भयाक्रांत होकर

देशभक्ति की भावुकता पूर्ण अपीले कर बैठते है । साम्राज्यवादियों के बीच क्या कभी अंतविरोध समाप्त हो सकते है? क्या साम्राज्यवादियों के बीच कायम शक्ति सन्तुलन में परिवर्तन नही होगा ? क्या साम्राज्यवादी देशो के आपसी अंतविरोधों के तीखे होने के फलस्वरूप पुनः किसी विश्वयुद्ध की संभावना समाप्त हो गई है? क्या विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाओ के मार्फत दुनिया में अतिरिक्त मूल्य विनियोग का बंटवारा अतिम तौर पर हो चुका है ? G-7 (या G-8) को कैसे समझा जाय?

नीरज इन सवालों से अपनी पुस्तक में जूझने को तैयार ही नहीं हैं । यद्यपि ये वे महत्वपूर्ण सवाल है जिनसे विश्व का भविष्य तय होना है । जिससे क्रांतिकारियों को अपनी भावी रणनीति तय करनी है ।

"मार्क्सवादी" नीरज का यह पलायनपन विश्व व्यापार संगठन के गठन और उसके भविष्य पर चर्चा करते वक्त भी दिखायी देता है । वे "वैश्वीकरण" की चर्चा करते है पर विश्व व्यापार संगठन की चर्चा नही के बराबर करते है । यदा कदा, संदर्भो से काट कर या उस तोते की तरह, जो "रामनाम" का जाप अभ्यासवश तो करता है पर उसका "अर्थ" नही जानता, इसतरह से नीरज विश्व व्यापार संगठन की चर्चा अपनी पुस्तक में करते है।

विश्व व्यापार संगठन, G-7 आदि के सम्बध्य में एक मार्क्सवादी का रूख क्या होना चाहिये ? क्या वही नही चाहिये जो कि लेनिन ने साम्राज्यवादियों के बीच गठजोड़, संधियो आदि के सम्बन्ध में, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (जिसे हम बार-बार उदधृत कर रहे है) में लिखा था

> "इसलिए अंग्रेज पादरियों का या जर्मन "मार्क्सवादी" काउस्की की छिछोरी तंगनजर कल्पानओं में नही, बल्कि पूंजीवादी व्यवस्था की वास्तविकताओं में "अंतर साम्राज्यवादी अथवा" "अति साम्राज्यवादी" गठजोड़ – उसका रूप चाहे कुछ भी हो, चाहे एक साम्राज्यवादी गठजोड़ के खिलाफ दूसरे साम्राज्यवादी गठजोड़ के रूप में हो या सभी साम्राज्यवादी ताकतों के आम गठजोड़ के रूप में - अनिवार्यतः युद्धों के बीच में " युद्ध-विराम" से ज्यादा और कुछ नही होते । शांतिपूर्ण गठजोड़ युद्धों के लिए जमीन तैयार करते है और स्वयं भी इन्ही युद्धों से उत्पन्न होते है, एक दूसरे पर प्रभाव डालते है और विश्व अर्थव्यवस्था तथा विश्व राजनीति के भीतर साम्राज्यवादी बंधनों तथा संबधों के उसी एक आधार में से संघर्ष के शांतिपूर्ण तथा अशांतिपूर्ण रूपों को बारी-बारी से जन्म देते है ।..... साम्राज्यवादी शांति की मुद्दतों तथा साम्राज्यवादी युद्धो की की मुद्दतों के बीच जो सजीव सम्बन्ध है, उसे बताने के बजाय काउस्की मजदूरों के सामने एक निष्प्राण विवेकित रखते है, ताकि उसके निष्प्राण नेताओं से उसका मेल करा दे ।
>
> (पृष्ठ 149-150, 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था'...जोर मूल में)

"मार्क्सवादी" नीरज की अवस्थिति उन्हें कितने दिन काउस्की इत्यादि की संगत से बचा पायेगी । यह तो वैसे भविष्य की बात है पर उनकी पुस्तक "वैश्वीकरण" "पुनर्उपनिवेशीकरण" "आर्थिक उपनिवेशीकरण" के खिलाफ क्या कोई सकारात्मक विरोध के स्वर ऐसी फूहड़ अनदेखी के बाद उपजा सकती है ? NGO वादियों, भ्रष्ट मार्क्सवादियों तथा अन्य प्रतिक्रियावादियों द्वारा बनाये गये भ्रम के मकड़जाल के किसी एक तन्तु को भी क्या नीरज की पुस्तक इस तरह से तोड़ सकती है ?

सामाजिक क्षेत्र

नीरज अपनी पुस्तक में सामाजिक क्षेत्र की चर्चा करते वक्त एक महत्वपूर्ण सवाल से पूर्णतः किनारा कर लेते है कि तीसरी दुनिया के शासक (विशेष चर्चा क्योकि भारत की

है इसलिए भारतीय शासकवर्ग) क्यों सामाजिक क्षेत्र के निजीकरण और वैश्वीकरण को स्वयं भी इतनी तरजीह दे रहे है ? क्यों शिक्षा, स्वास्थ्य, बीमा, बैंक, इत्यादि के वैश्वीकरण व निजीकरण के लिए रोज नये कदम उठाये जा रहे है ? एक वर्ग के बतौर उनके इससे क्या हित सधते है ? क्या मात्र साम्राज्यवादियों के दबाब या निर्देशो के तहत ऐसा किया जा रहा है ?

नीरज की तर्क प्रणाली और "चिंताओं" को लिया जाय तो ऐसा लगता है मानो पिछली सदी के 50 व 60 दशक के, तीसरे दुनिया के शासक जनपक्षधर थे, उन्होंने तो सामाजिक कार्यो की जिम्मेदारी उठायी थी परन्तु अस्सी व नब्बे के शासक जो "अर्थिक उपनिवेश" बनने के बाद "विश्वास घाती" (treacherous) हो गये है, इसलिए ऐसा कर रहे है । यह नेहरू मांडल के वकील बनने के अलावा क्या है?

तीसरी दुनिया के शासक वर्ग का, एक वर्ग के बतौर विश्लेषण का वैसे तो पूरी पुस्तक में ही अभाव है परन्तु इस धारणा के साथ कुछ सवाल पुनः दूसरे शब्दों में उठ खड़े होते है । क्यों 50, 60 व 70 के दशक में विभिन्न उधोगों का राष्ट्रीय करण किया गया था ? बैंक व बीमा जो निजी क्षेत्र में थे, क्या "विपत्ति" आन पड़ी थी कि उन्हें राष्ट्रीकृत किया गया ? क्यों शिक्षा, स्वास्थ्य पर भारतीय और तीसरी दुनिया के शासक वर्ग ने धन खर्च किया? कृषि व अन्य क्षेत्रो को क्यों सब्सिड़ी दी गयी ? क्यो संरक्षणात्मक कानून और प्रावधानों का निर्माण किया गया था ? क्या इसकी बजह यह थी कि भारत का शासक जनपक्षाधर और प्रगतिशील था ?

स्पष्ट तौर पर अगर पचास, साठ व सत्तर के दशक में आज से विरोधी दिखायी देने वाली नीतियां अपनायी गयी थी तो एक ही चीज तब भी और आज भी पूरे जोर शोर से काम कर रही थी और कर रही है, वो है, तीसरी दुनिया के शासक वर्ग " पूंजीपति वर्ग" के हित क्या है और उन हितो को कैसे विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर संवर्धित और संरक्षित किया जा सकता था और किया जा सकता है ? पूंजीपति वर्ग के हित वह दिशा सूचक यंत्र है जिससे तीसरी दुनिया की नीति और योजनाओं की दिशा तय होती हैं ।

नीरज जब तीसरी दुनिया के शासक वर्ग के वर्गीय चरित्र की ठोस व सटीक व्याख्या नही करते है तो तब वे मार्क्सवादी के बजाय एक गांधीवादी, स्वदेशवादी की भांति आचरण करने का परिचय देते है । बदहवास होकर वे तीसरी दुनिया के शासक वर्ग की लानत मलानत करते है, क्रोधपूर्ण ढंग से उसको "दलाल" "बेईमान" "विश्वासघाती" इत्यादि विश्लेषणो से "नवाजते" है । अति भावुक होकर वे देशवासियों को पुकारते है

> "क्या ये दिल को दुखाता नही है, ओ हम वतनों !" (वही पृष्ठ 68, अनुवाद हमारा)

आज यदि, सामाजिक क्षेत्र को "देशी" व "विदेशी" पूंजीपतियों के हाथों में सौपा जा रहा है तो ऐसा पूंजीपतियों के हितो के कारण ही हो रहा है और यह सामाजिक क्षेत्र जिसमें सेवा क्षेत्र भी शामिल है में पूंजी लगाने और मुनाफा कमाने की एक बड़ी संभावना मौजूद है और इसलिए उसके दोहन के लिए यह सारी कवायद है । इसी तरह जब इन क्षेत्रो का "सार्वजनिक करण" किया गया था तब भी उन नीतियों का कारण यह था कि इनका इस्तेमाल पूंजीपतियों के तात्कालिक और दूरगामी हितों को लिए किया जा सके ।

नौकरी छीनने से डरे सरकारी बाबुओं, टुटपूंजीया बुद्धिजीवियों, NGO वादियों, CPI-CPM मार्का आलोचनओं; से न तो पहले की प्रक्रिया को और ना इस वक्त घटने वाली प्रक्रियाओं को समझा जा सकता है और ना ही ठोस निर्णायक संघर्षों को विकसित किया जा सकता है । ठोस निर्णायक संघर्ष की दिशा समाजवाद, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को स्थापित करने की ओर ही हो सकती हैं ।

जहां तक "राज्य हस्तक्षेपकारी मांडल" का सवाल है और उस मांडल को तीसरी

दुनिया के देशों द्वारा अपनाने का सवाल है, आप ही फरमाते हे कि यह "विकसित देशों" के अठ्ठारहवी व उन्नीसवी शताब्दी के मांडल की नकल है ।लेकिन आपकी यह बात गलत है "राज्य हस्तक्षेपकारी मांडल" बीसवीं सदी की बात है संरक्षण वादी नीतियां अठ्ारहवीं-उन्नीसवीं सदी में अपनायी गयी थी । यह बात आपकी वैसे ठीक है; " विकसित देशों ने एक समय में अपने देशों में पूंजीवाद का विकास संरक्षणवादी नीतियों के तहत किया था । और विश्व पूंजीवाद व्यवस्था के भीतर पचास-साठ व सत्तर के दशकों में तात्कालिक विश्व परिस्थितियों में तीसरी दुनिया के देशों ने अपने देशों में पूंजीवादी विकास के प्रयास किये ।

अब रही बात, नीरज द्वारा तीसरी दुनिया की भूखमरी, गरीबी बेरोजगारी, अशिक्षा, कुस्वास्थ्य के साथ बढ़ती अमीरी और गरीबी (जिसको वे विकसित देशें के सन्दर्भ में भी रेखांकित करते है) की खाई का सवाल । क्या यह पूंजीवाद (और अपनी उच्चतम अवस्था में साम्राज्यवाद) के चरित्र से भिन्न कोई अन्य बात है । पूंजीवाद ऐसा न करें तो वो पूंजीवाद ही क्यों रहेगा ।लेनिन के शब्दों में

> "यह मानी हुई बात है कि पूंजीवाद कृषि का विकास कर सकता, जो आज हर जगह उद्योग से पिछड़ी हुई है, यदि वह जनसाधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठा सकता, जिन्हें आज भी आश्चर्य जनक तकनीकी उन्नति के बावजूद हर जगह भर-पेट भोजन नही मिलता और जो दरिद्रता का शिकार हैं, तो पूंजी के अतिरेक का कोई सवाल ही न पैदा होता । पूंजीवाद के निम्न पूंजीवादी आलोचक बहुधा यह "दलील" पेश करते है । **परन्तु यदि पूंजीवाद यह सब कुछ करता, तो वह पूंजीवाद न होता, क्योंकि असमान विकास और जनसाधारण के जीवन का अर्द्ध भुखमरी का स्तर इस उत्पादन प्रणाली की आधार भूत तथा अनिवार्य शर्त तथा पूर्वास्थाएं है** । जब तक पूंजीवाद रहेगा, तब तक बेशी पूंजी किसी देश विशेष के जनसाधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए इस्तेमाल नही की जायेगी, क्योंकि उसका मतलब होगा पूंजीपतियों के मुनाफे में कमी, बल्कि उसका इस्तेमाल पिछड़े हुए देशों में पूंजी का निर्यात करके मुनाफे बढ़ाने के लिए किया जायेगा ।" (लेनिन, 'साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था', खण्ड, 2 संकलित रचनाएं चार खण्डो में, पृष्ठ 77, जोर हमारा)

यदि "मार्क्सवादी" नीरज लेनिन, मार्क्स द्वारा बार-बार कही गई बातों को ना भुलाते तो वे तरह तरह की उजूल-फिजूल बातों से अपनी पुस्तक को ना भरते । बिना बजह का रोना धोना ना मचाते । नीरज, पूंजीवाद के निम्न पूंजीवादी आलोचक के समान ही व्यवहार करते है । वे यथार्थ का चित्र खींचकर हाय-तौबा मचाते है लेकिन यह नही बताते है कि ऐसा क्यों हो रहा ? जैसा हमें लेनिन बताते है कि जब तक पूंजीवाद रहेगा तब तक जनसाधारण का जीवन अर्द्ध भुखमरी का ही रहेगा । जिन विपत्तियों, व्याधियों की चर्चा नीरज अपनी पुस्तक में करते है, वे बनी रहेगी । इसका सीधा उपाय यह है कि पूंजीवाद को नष्ट कर, समाजवाद का निर्माण किया जाए। जिसकी चर्चा करना नीरज को गंवारा नही, इस कारण होता यह है कि उनकी पुस्तक नेहरूवादी मांडल की बेशर्म पैरोकारी बन जाती है ।

IV

विस्मृति का दौरा

इक्कीसवी सदी की दहलीज पर खड़े होकर, बीसवी सदी पर अगर कोई मार्क्सवादी नज़र डालेगा तो वो बीसवी सदी का क्या विश्लेषण करेगा? बीसवी सदी मानवजाति के इतिहास में, किन योगदानों के लिए याद की जायेगी ? बीसवी सदी में वो कौन सी महत्वपूर्ण धारायें थी जिन्होंने विश्व इतिहास को गति प्रदान की ?

बीसवी सदी मानवजाति के इतिहास में इसलिए याद की जायेगी, इस सदी में कर्मोवेश सामान्तवाद पूरी दुनिया से सर्वहारा, किसान वर्ग तथा अन्य वर्गो के गौरवपूर्ण संघर्ष के कारण अतीत की वस्तु बन गया है ।

बीसवी सदी, साम्राज्यवाद के विरूद्ध तीसरी दुनिया के देशो के जुझारू संघर्षो के लिए याद की जायेगी । राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षो की धारा ने समाजवाद के सहयोग से उपनिवेशवाद और नव उपनिवेशवाद को दुनिया से रूखसत होने को मजबूर कर दिया ।

बीसवी सदी, फासिस्टो के खिलाफ, मेहनतकशो व कम्युनिस्टों के साहसपूर्ण संघर्षो अनगिनत कुर्बानियों और विजय के लिए याद की जायेगी ।

सर्वोपरि बीसवी सदी, सर्वहारा क्रांतियों, समाजवाद के निमार्ण तथा उसके विश्व इतिहास में अनूठे प्रयोगों के लिए याद की जायेगी। अक्टूबर क्रांति, चीनी नवजनवादी क्रांति तथा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति लिए बीसवी सदी याद की जायेगी । सर्वहारा क्रांतियों व असफल लड़ाईयों से समाजवाद की वक्ती पराजय से सर्वहारा आवश्यक सबक निकालकर, भविष्य की महान गाथाओं का निमार्ण करेगा ।

लेकिन नीरज अपनी पुस्तक में उपरोक्त बातों को या तो नजर अंदाज कर देते है या ऐसे शब्दों में चर्चा करते है कि वे बेहद मामूली घटनाएं नजर आती है । सर्वहारा क्रांतियों को तो वे भूल ही जाते है । उनका तो जिक्र करना भी उन्हें गंवारा नही। "मजबूरी वश" जब वो सत्तर के दशक में आये परिवर्तनों का जिक्र करते है तो वे यह तो नही कह सकते कि चीन में समाजवाद नही था, लेकिन एक कारवाई वो अवश्य कर सकते है कि; इस सब को अस्पष्ट फुसफुसाहट में बदल दें, एक बानगी, देखिये, अपनी पुस्तक के अंतिम अध्याय "Its not over as yet !" के उपशीर्षक "सोवियत संघ और चीन की पराजय" में वे लिखते है

> "दूसरे महत्वपूर्ण प्रतिद्वन्दी, समाजवादी चीन ने, 1970 के अंतिम वर्षो में, विकास के रास्ते को त्याग दिया। 1949 की चीनी क्रांति के बाद के वर्षों में, चीन में एक वर्ग का उदय हुआ जो चीन को पूंजीवादी विकास के रास्ते में ले जाना चाहता था। एक लम्बे व तीखे संघर्ष के बाद पूंजीवादी पथ गामी 1976 में सत्ता में कब्जा करने में सफल हुए । सत्ता पर अपना कब्जा सुदृढ़ करने के बाद उन्होंने चीन का पूंजीवादी रूपान्तरण प्रारम्भ किया, चीन के नये शासक वर्ग ने चीनी साम्राज्यवाद विरोध की नीति छोड़ कर चीनी अर्थव्यवस्था के विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण के कदम उठाने शुरू कर दिये।" (वही, पृष्ठ 215, अनुवाद हमारा)

वाह ! चीन के इतिहास के बारे में क्या "शानदार" चर्चा है । नीरज एक पिछड़े, अर्द्धसामन्ती अर्द्ध - औपनिवेशिक मुल्क में हुयी 1949 की नव जनवादी क्रांति, उसके बाद महान अग्रवती छलांग के नाम से जाने वाली समाजवादी निर्माण के प्रयोग उसके बाद सोवियत संघ में हुयी पूंजीवादी पुर्नस्थापना के बाद उससे आवश्यक सबक निकालकर माओ तथा चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हुयी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के महत्व को बिलकुल ही भूला देते है । बाद के क्रांतिकारी संघर्षो का तो जिक्र भी नही करते ।

उनकी पुस्तक में यह मुख्य प्रतिनिधिक उदाहरण है । पुस्तक के अन्य हिस्सों में तो वे समाजवाद, सर्वहारा क्रांति, कम्युनिस्ट, जैसे शब्दो से परहेज करते है और इतिहास की व्याख्या उन शब्दों में करते है जिनसे उन संघर्षो, क्रांतियों का चरित्र ही बदल जाता है। पूर्व एशिया की चर्चा करते वक्त आपकी यह प्रवृति जोरों से सिर उठाती है । "करिश्में की पृष्ठभूमि" नामक उपशीर्षक में आप भ्रम पूर्ण धारणाऐं फैलाने का करिश्मा दिखाते है। आप फरमाते है "पूंजीवाद विरोधी आन्दोलन" "साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन" और इसी तरह

की अन्य शब्दावली का आप प्रयोग करते है । यह अर्द्ध सत्य है जिसकी आप यहां चर्चा करते है । 50 व 60 के दशकों में यहां नवजनवादी क्रांति की जबरदस्त कोशिशों की गई थी, यह शायद आप भूले नही होंगे । कोरिया, वियतनाम, लाओस, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मलेशिया, आदि मुल्कों में कम्युनिस्टो के नेतृत्व में क्रांतिकारी आन्दोलन जोरो से चल रहे थे । नवजनवादी क्रांतियां करने के बाद इन मल्को में भी देर सवेर समाजवाद कायम होता, चीन की तरह । उ० कोरिया तथा वियनताम में सर्वहारा के नेतृत्व में मजदूरो-किसानों की सत्तायें कायम भी हुई । आप "भू-राजनैतिक कारणों" जैसे शब्दों से पुनः भ्रम पैदा करते है । "पूंजीवादी विरोधी", साम्राज्यवाद विरोधी" "भू-राजनैतिक कारण" जैसी शब्दावली तो उदार बुर्जुआ वर्ग भी इस्तेमाल कर लेता है । और आजकल तो ऐसी शब्दावली का प्रयोग उत्तर आधुनिकता वादी, पोस्ट-कम्युनिस्ट, NGO वादी बड़े धुआधार ढंग से कर रहे है ।

पूर्व एशिया ही वो रणक्षेत्र था जहां मिली सर्वहारा विजयों और सशक्त संघर्षो से अमेरिकी साम्राज्यवाद को अपने दुर्दिनों की धमक सुनाई पड़ी थी, इसलिए समाजवाद के खिलाफ उसने ताइवान, सिगांपुर, द०कोरिया जैसी चौकियों के निर्माण में भरपूर योगदान दिया था (साथ ही इन मुल्कों से इसकी भारी कीमत वसूली थी और आज भी वसूली जा रही है, और ये मुल्क वास्तव में अमेरिका के नव उपनिवेश थे) ।

और आप जब वर्गसंर्ष, समाजवाद, कम्युनिस्ट, की चर्चा ही नही करते है तो फिर "विचारधारात्मक युद्ध" की चर्चा का अर्थ क्या रह जाता है । तमाम टुटपुंजिया विचारधाराओं में भी कुछ ना कुछ संघर्षो तो चलता ही रहता है ।

विस्मृति का दौरा नीरज को दुनिया में वर्तमान में चल रहे क्रांतिकारी संघर्षो के सन्दर्भ में फिर से पड़ता है । उन्हें सिएटल तो दिखाई देता है लेकिन पेरू, फिलीपीन्स, नेपाल नही दिखाई देते है । सिएटल, मेकिस्को, कोलम्बियां, जिम्बावे, इत्यादि की चर्चा पूर्णतः NGO वादी अंदाज में करते है, अर्थात् वर्गीय विश्लेषण और सर्वहारा दृष्टिकोण को त्याग कर । उनके वर्ग चरित्र के बारे में वो खामोशी अख्यिार कर लेते है । चिप्पास के आन्दोलन को तो NGO वादी, पोस्ट कम्युनिस्ट, कम्युनिस्ट विरोधी आन्दोलन के रूप में महिमा मंडित करते रहे है ।

नीरज का यही रूख फिर उस स्थान पर उज़ागर होता है जहां वे अपनी पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में "नये अन्तराष्ट्रीयतावाद" की चर्चा करते है । क्योंकि अस्सी व नब्बे के दशक में नीरज के लिए बहुत कुछ नया घट रहा है इसलिए जनसंघर्षो में भी नयापन, नवीनता प्रदर्शित करना जरूरी हो गया है । जरा "नये अन्तर्राष्ट्रीयतावाद" पर नीरज के मुखार बिन्दु से "अनमोल विचारों" को सुनें;

> "तीसरी दुनिया के देशों में, 1990 के दशक में जो नये उग्र संघर्ष उभर रहे है उनका अन्तराष्ट्रीय होना उनका एक विशिष्ट लक्षण है : ये संघर्ष अन्तराष्ट्रीय सहयोग, तंत्र (Network) व संगठनों को उत्पन्न कर रहे है ।.....
>
> "इस नये अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की मुख्य उत्साहित करने वाली घटना, 1999 के नवम्बर माह में; अमेरिका के सिएटल शहर में विश्व व्यापार संगठन के मंत्री स्तरीय कान्फ्रेंस के दौरान उसके खिलाफ विशाल जन पदर्शन था ।
>
> "इस नये अन्तर्राष्ट्रीयतवाद का उदय किसी भी तरह आश्चर्यजनक नही है ।..."
>
> (वही, पृष्ठ 234-235, अनुवाद व जोर हमारा)

इस "नये अन्तर्राष्ट्रीयतावाद" में नया क्या है ? सिवाय इसके कि यह "नया अन्तर्राष्ट्रीयतावाद" सिएटल जैसे पर्दशनों को महिमा मंडित करता है । सिएटल में हुआ पर्दशन NGO वादियों, पर्यावरण वादियों, मानवतावादियों, बुद्धिजीवियों तथा ट्रेनयूनियनवादियों

का एक विचित्र जमावड़ा था । इसकी विविधिता में से किसी एकता की दूरगामी गुजांइश तो दिखाई नही देती । सिएटल में पर्दशन करने वाले NGO, पर्यावरणवादियों तथा अभिजात मजदूर नेताओ को तो अमेरिकी प्रशासन का सहयोग और यहां तक अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिटन का वरद हस्त प्राप्त था । जहां तक जेपिस्टा व लेटिन अमेरिकी किसान कन्फन्ड्रेशन का सवाल है इनके वर्ग अंतर्य की सीमा को नजर अंदाज नही किया जाना चाहिए ।

यहां बड़ी दिक्कत यह नही है कि नीरज इन सघर्षों व प्रयासों की चर्चा करते है बल्कि ये है कि वे सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयता वाद को एन०जी०ओ० टाइप के "नये अन्तर्राष्ट्रीयतावाद" से प्रतिस्थापित कर देते है । बीसवी सदी की सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयता वाद की तमाम बेमिसाल घटनाओ को और परम्पराओं वे बिसरा देते है । अस्सी व नब्बे के दशक में भी साम्राज्यवादियों के खिलाफ इराक, यूगोस्लाविया आदि मुल्को की जनता के संघर्षो को मिले विश्वव्यापी समर्थन को वे भुला देते है । इसी तरह पेरू, तुर्की, फिलीपीन्स, कोलम्बिया, निकारगुआ, नेपाल; इत्यादि मुल्को में कम्युनिस्टो व क्रांतिकारयों के संघर्ष व उनको मिलने वाले अन्तराष्ट्रीय सहयोग व समर्थन तथा कम्युनिस्टो तथा सर्वहारा के एकता के प्रयासो को वे भुला देते है, बिसरा देते है।

"मार्क्सवादी" नीरज इस बात को भूल गये हैं कि सर्वहारा का विश्व दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रवादी होता है । मार्क्स - एगेल्स ने इन शब्दों में वक्त किया था "मजदूरों का कोई स्वदेश नही है", उन्होंने नारा दिया था" दुनिया के मजदूरो एक हो"। मजदूरों के अतिरिक्त कोई वर्ग नही है जो सच्चे अर्थो में अन्तर्राष्ट्रवादी हो । निम्न पूंजीपति वर्ग तो कतई नही।

पूंजीवाद व साम्राज्यवाद के खिलाफ निर्णायक लड़ाई मजदूर ही लड़ सकते हैं । दुनिया का सबसे उन्नत व आधुनिक वर्ग सर्वहारा ही है ओर उसका ही भविष्य है । सर्वहारा वर्ग की इस भूमिका के बारे में लेखक अपनी पुस्तक में रखने में पूर्णतया अक्षम साबित होते हैं । "जानकार" व्यक्ति अगर ऐसी हरकत करते है तो उन्हें सर्वहारा वर्ग के खिलाफ ही माना जायेगा । नीरज निम्न पूंजीवादी NGO वादी धारणाओ को प्रश्य ही नही देते बल्कि उनकी ही धुन में नृत्य करने लगते है और उम्मीद करते है की पाठक भी उन्ही की तरह, इस नृत्य आयोजन में शमिल हो जायेंगे ।

विस्मृति के बार-बार पड़ने वाले दौरों ने नीरज को उस स्थान पर पहुंचा दिया है जहां वे पूंजीवाद के बदले समाजवाद की बात ना कर के, मानवीय, दयालु पूंजीवाद की बात करने लगते है । जरा उनके नये समाज की अवधारणा पर गौर कीजिये

> "... यह लोगों के विश्वव्यापी संघर्षो का नतीजा होगा कि वे एक भिन्न प्रकार के समाज का निर्माण करेंगे-जिसका मूल तर्क और प्राथमिकता समाज उत्पादको की समृद्ध और खुश बनाने में होगी, जिसके प्रत्येक सदस्य का रोजगार पर जन्म जात अधिकार होगा, उनके पास एक स्थायी आमदनी; एक घर; स्वास्थ्य सुरक्षा और बुढ़ापे में सुरक्षा हासिल होगी; यह समाज सच्चे अर्थो मे जनवादी और आजाद होगा -....."
>
> (वही, पृष्ठ 234, अनुवाद हमारा)

अब इस गोल-मोल, लोकलुभावन बात से इसके अलावा और क्या नतीजा निकलता है कि नीरज अपनी पुस्तक में पूंजीवाद की ही पैरोकारी कर रहे है । हां उनका लक्ष्य है -- स्वीडीश माडल का पूंजीवाद जो उनकी कल्पनाओं की सबसे खूबसूरत अभिव्यक्ति है । "मार्क्सवादी" नीरज जरा लेनिन व स्टालिन के नेतृत्व में बने सोवियत संघ में निर्मित समाजवाद को भी याद कर लेते । वो आप के "स्वीडीश पूंजीवाद" से कई गुना "आजाद और "जनवादी" था, श्रीमान नीरज !

वैसे इस बात का लम्बा इतिहास है कि जब भी कोई व्यक्ति या पार्टी बुर्जुआ वर्ग की सेवा में अपना तन-मन-धन समर्पित करता या करती है, तो उसे या उन्हे विस्मृति के ऐसे दौरे पड़ते है जिसमें वो और वे सर्वहारा, कम्युनिस्टों के गौरवपूर्ण संघर्षो व बलिदानों

को भुला देते है और उसकी जगह इतिहास की एक मनचाही रूपरेखा प्रस्तुत करते है ।

वर्ग संघर्ष, ऐतिहासिक भौतिकवाद के आम नियम से संचालित इतिहास को ऐसे सज्जन ऐसे प्रस्तुत करते है कि मानो इतिहास अब उनकी "अन्तः प्रेरणा" "अर्न्तज्ञान" और यकायक "नवप्राप्त इलहाम" से उनकी आज्ञानुसार चल पड़ेगा ।

लेकिन ऐसे सज्जनों के साथ इतिहास में होता क्या रहा है ? अपनी "पुरानी और नयी" प्रतिज्ञाओं और प्रतिबद्धताओं के साथ इनकी "देवमूर्ति" काउत्सकी, ख्रुश्चेव, डेंग श्याओ पिंग के साथ प्रकट होती रही है ।

इस सवाल से आज दुनिया के कम्युनिस्ट अपरिचित नही है कि ये विस्मृति के दौरे क्यों पड़ते हैं, कब पड़ते है और किन्हें पड़ते है ? हम तो बस यही "दुआ" करेंगे कि नीरज शीघ्र अति शीघ्र विस्मृति के इन दौरो से उभरे, सर्वहारा संघर्षों के विराट सिलसिले से, अपनी स्मृति को अनुप्राणित करें ताकि खुद भी भ्रमित होने से बचें तथा दूसरो को भी बचायें । *आमीन!*

❑ ❑ ❑